छठा अध्याय

दिल्ली सल्तनत–1

(लगभग 1200 ई. – 1400 ई.)

मम्लूक[1] सुल्तान

जिन कारणों से तुर्कों ने पंजाब और मुल्तान के अपने आधार से गंगा की घाटी को जीतने में, बल्कि उससे भी आगे बिहार और बंगाल के कई इलाकों पर कब्ज़ा करने में कामयाबी हासिल की उनमें से कुछ का ज़िक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इन विजेताओं ने जिस राज्य की स्थापना की वह दिल्ली सल्तनत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपनी स्थापना के लगभग सौ साल बाद तक इस सल्तनत को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए विदेशी आक्रमणकारियों, तुर्क नेताओं के अंदरूनी झगड़ों और पदच्युत तथा अर्धनिरस्त राजपूत शासकों के स्वतंत्रता प्राप्त करने और संभव होता तो तुर्कों को निकाल बाहर करने के प्रयत्नों के खिलाफ जूझते रहना पड़ा। किंतु तुर्क शासक इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल रहे और तेरहवीं सदी का अंत होते-होते वे इस स्थिति में पहुंच चुके थे कि अपनी सल्तनत का विस्तार मालवा और गुजरात में कर सकें एवं दकन और दक्षिण भारत में अपनी पैठ जमा सकें। इस प्रकार उत्तरी भारत में तुर्क शासन की स्थापना का प्रभाव सौ साल के अंदर पूरे भारत में महसूस किया जाने लगा और उसके फलस्वरूप समाज, प्रशासन तथा सांस्कृतिक जीवन में दूरगामी परिवर्तन हुए।

शक्तिशाली राजतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष

गुइज्जुद्दीन (मुहम्मद गोरी) की मृत्यु (1206 ई.) के बाद उसके भारतीय राज्य-प्रदेशों का उत्तराधिकार कुतुबुद्दीन ऐबक को प्राप्त हुआ। मुइज्जुद्दीन के इस तुर्क गुलाम ने तराइन की लड़ाई के बाद भारत में सल्तनत की सरहदों का विस्तार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मुइज्जुद्दीन के दूसरे गुलाम यलदूज को गज़नी का

1 अरबी भाषा के इस शब्द का अर्थ है – 'अपनाया हुआ'। इसका प्रयोग घरेलू कामकाज या आर्थिक गतिविधियों के लिए उपयोग किये जाने वाले साधारण गुलामों की बजाए उन खास गुलामों के लिए किया जाता था जो मुख्य रूप से सैनिक सेवा करते थे।

उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। गज़नी के शासक के रूप में यलदूज ने दिल्ली पर भी अपना हक जताया। लेकिन उसके इस दावे को ऐबक ने स्वीकार नहीं किया और दिल्ली सल्तनत ने गज़नी से अपने सारे संबंध तोड़ लिए। यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ, क्योंकि इससे भारत मध्य-एशियाई राजनीति के झमेलों में पड़ने से बच गया। इससे दिल्ली सल्तनत को भारत से बाहर के किसी देश का सहारा लिए बिना अपने बल-बूते पर अपने ढंग से अपना विकास करने का मौका मिला।

इल्तुतमिश (1210 ई.–36 ई.)

1210 ई. में चोगान (पोलो) खेलते समय घोड़े से गिर जाने से ऐबक को गहरी चोट लगी जिससे उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका दामाद इल्तुतमिश दिल्ली की गद्दी पर बैठा। लेकिन इससे पहले उसे ऐबक के बेटे को लड़ाई में हराना पड़ा। इस तरह पिता का उत्तराधिकार पुत्र को प्राप्त होने की रीति को आरंभ में ही तोड़ दिया गया।

इल्तुतमिश को तुर्कों की भारत-विजय को स्थायित्व प्रदान करने का श्रेय देना होगा। उसकी गद्दीनशीनी के समय अलीमर्दानख़ां ने स्वयं को बंगाल और बिहार का राजा घोषित कर दिया था। उधर ऐबक के एक साथी गुलाम कुबाचा ने खुद को मुल्तान का स्वतंत्र शासक ऐलान कर दिया था और लाहौर तथा पंजाब के कुछ हिस्सों पर कब्ज़ा भी कर लिया था। आरंभ में दिल्ली के आसपास के सल्तनत के कुछ अधिकारियों ने भी इल्तुतमिश की सत्ता स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर राजपूतों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इस प्रकार कालिंजर, ग्वालियर और पूरे पूर्वी राजस्थान ने, जिसमें अजमेर और बयाना के राज्य शामिल थे, अपने कंधों से तुर्की पराधीनता का जुआ उतार फेंका।

अपने शासन काल के आरंभिक वर्षों में इल्तुतमिश की निगाह उत्तर-पश्चिम पर टिकी हुई थी। ख्वारिज़्म शाह की गज़नी विजय से उसकी स्थिति के लिए एक नया खतरा पैदा हो गया था। उन दिनों ख्वारिज़्म साम्राज्य मध्य एशिया का सबसे शक्तिशाली राज्य था। चिंता की बात यह थी कि उसकी पूर्वी सीमा सिंधु नदी तक चली आती थी। इस खतरे को टालने के लिए इल्तुतमिश ने लाहौर के लिए कूच किया और उस पर कब्ज़ा कर लिया। 1218 ई. में ख्वारिज़्मी साम्राज्य को मंगोलों ने ध्वस्त कर दिया। वस्तुतः मंगोलों ने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह इतिहास के दुर्धर्षतम साम्राज्यों में से था, और जब वह साम्राज्य अपने पूरे ओज पर था उस समय उसकी सीमा चीन से लेकर भूमध्य सागर के तट तक और कास्पियन सागर से लेकर जक्सार्टिस नदी तक फैली हुई थी। उससे भारत के लिए जो खतरा पैदा हो गया था उस पर और दिल्ली सल्तनत पर उसके प्रभावों पर आगे विचार किया जाएगा। फिलहाल वे लोग अन्यत्र व्यस्त थे जिससे इल्तुतमिश को कुबाचा से निबटने का अवसर मिल गया और उसने उसे मुल्तान तथा उच्छ से उखाड़ फेंका। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत की सीमा एक बार फिर सिंधु नदी का स्पर्श कर रही थी।

पश्चिम से निश्चिंत होकर अब इल्तुतमिश अन्य इलाकों की ओर ध्यान दे सकता था। बंगाल और बिहार में इवाज़ नामक एक व्यक्ति ने सुल्तान

गियासुद्दीन की पदवी धारण करके अपनी आजादी का ऐलान कर दिया था। वह एक उदार और योग्य शासक था और उसने जनहित के लिए काफी निर्माणकार्य करवाए थे। गियासुद्दीन अपने पड़ोसी शासकों के प्रदेशों पर हमले करता रहता था लेकिन पूर्व बंगाल के सैन शासक और उड़ीसा तथा कामरूप (असम) के हिंदू शासकों का बोलबाला अपने-अपने प्रदेशों में कायम था। 1226 ई.–27 ई. में इवाज़ लखनौती के निकट इल्तुतमिश के बेटे के ख़िलाफ़ लड़ता हुआ मारा गया। बंगाल और बिहार एक बार फिर दिल्ली के अधीन आ गए लेकिन इन प्रदेशों को संभालना कठिन कार्य था। वे दिल्ली की सत्ता को बार-बार चुनौती देते रहे।

लगभग उन्हीं दिनों इल्तुतमिश ने ग्वालियर और बयाना पर फिर से कब्जा करने के लिए कदम उठाए। अजमेर और नागोर पर उसकी सत्ता कायम रही। उसने रणथंभोर और जालोर पर आक्रमण करके वहाँ अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित किया। उसने मेवाड़ की राजधानी नागदा (उदयपुर से लगभग 22 किलोमीटर दूर) पर भी हमला किया लेकिन रावल की सहायता के लिए गुजरात की सेना के आ जाने से उसे पीछे हटना पड़ा। इसका बदला लेने के लिए इल्तुतमिश ने गुजरात के चालुक्यों के खिलाफ एक सेना भेजी, लेकिन उसे काफी क्षति उठाकर निष्फल वापस लौटना पड़ा।

रज़िया (1236 ई.–39 ई.)

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में इल्तुतमिश उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर परेशान था। वह अपने जीवित बेटों में से किसी को भी गद्दी के लायक नहीं समझता था। काफी सोच-विचार के बाद उसने अपनी बेटी रज़िया को दिल्ली की गद्दी पर बैठने के लिए नामज़द करने का फ़ैसला किया। उसने अमीरों और उलमाओं को इस नामज़दगी पर रज़ामंद कर लिया। यद्यपि स्त्रियों ने प्राचीन मिस्र और ईरान – दोनों देशों में रानी की हैसियत से शासन किया था और युवराजों के नाबालिग रहते उनकी संरक्षिकाओं का दायित्व भी सँभाला था, तथापि बेटों के मुकाबले बेटी को तरज़ीह देकर उसे उत्तराधिकारी नामज़द करना एक नया कदम था। अपने दावे को मनवाने के लिए रज़िया को अपने भाइयों और शक्तिशाली तुर्क अमीरों के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा और वह केवल तीन वर्ष शासन कर पाई। यद्यपि उसका शासन अल्पायु का साबित हुआ तथापि उसकी कई दिलचस्प विशेषताएँ थीं। उसी के शासन-काल में सत्ता के लिए राजतंत्र और उन तुर्क सरदारों के बीच संघर्ष आरंभ हुआ जिन्हें कभी-कभी 'चहलगामी' या 'चालीसा' कहा जाता है। इल्तुतमिश इन सरदारों के साथ बहुत आदर से पेश आता था। उसकी मृत्यु के बाद सत्ता के नद में चूर ये उद्धत सरदार अपनी किसी कठपुतली को गद्दी पर बैठाना चाहते थे जिसे वे अपने इशारों पर नचा सकते हों। उन्हें जल्दी ही पता चल गया कि रज़िया भले ही स्त्री थी लेकिन वह उनकी कठपुतली बनने को तैयार नहीं थी। रज़िया ने जनाना पोशाक का त्याग करके बिना बुर्के-पर्दे के दरबार लगाना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, वह शिकार पर भी जाती थी और युद्ध में सेना का नेतृत्व करती थी। वज़ीर निज़ाम-उल-मुल्क जुनैदी ने उसकी गद्दी नशीनी का विरोध किया था और उसके खिलाफ अमीरों के

विद्रोह का समर्थन किया था। रज़िया ने उसे लड़ाई में हराकर जान बचाकर भागने पर विवश कर दिया। उसने राजपूतों को काबू में लाने के लिए रणथंभौर पर आक्रमण किया और अपने पूरे राज्य में शांति-सुव्यवस्था कायम की। लेकिन जब उसने अपने प्रति वफ़ादार अमीरों का एक दल खड़ा किया और एक गैर-तुर्क को ऊँचा पद दिया तो उसके खिलाफ विरोध की आग भड़क उठी। तुर्क अमीरों ने उस पर नारी सुलभ शील का त्याग करने और याकूत खाँ नामक अबिसीनियाई अमीर पर जरूरत से ज्यादा मेहरबान होने का आरोप लगाया। लाहौर और सरहिंद में विद्रोह भड़क उठा। उसने खुद ही सेना लेकर लाहौर पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के सूबेदार को अपनी अधीनता मानने पर मजबूर कर दिया। जब वह सरहिंद की ओर बढ़ रही थी उस समय उसी के खेमे में विद्रोह भड़क उठा और याकूत खाँ को मौत के घाट उतार दिया गया। रज़िया को तबरहिंद में बंदी बना लिया गया। लेकिन रज़िया ने अपने को बंदी बनाने वाले सरदार अलतूनिया को अपने पक्ष में मिला लिया और उससे शादी करके दिल्ली को फिर से फतह करने की एक और कोशिश की। रज़िया बहुत बहादुरी से लड़ी लेकिन पराजित हो गई और लड़ाई में डाकुओं के हाथों मारी गई।

बलबन का युग (1246 ई.–86 ई.)

राजतंत्र और तुर्क सरदारों के बीच संघर्ष जारी रहा। आखिर उलुग खां नामक एक तुर्क सरदार ने ही धीरे-धीरे सल्तनत की सारी सत्ता हथिया ली और 1265 ई. में दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर बैठ गया। यही वह सरदार था जो बाद में अपनाए गए अपने खिताबी नाम बलबन के रूप में इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इससे पहले बलबन इल्तुतमिश के एक कनिष्ठ सुलतान पुत्र नासिरुद्दीन महमूद का नायब था जिसे उसने गद्दी हासिल करने में भी मदद दी थी। बलबन ने युवा सुल्तान से अपनी एक बेटी का विवाह करके अपनी स्थिति और भी मज़बूत कर ली। बलबन के बढ़ते हुए रुतबे से बहुत से तुर्क सरदार उससे नाराज़ हो गए। चूँकि नासिरुद्दीन महमूद युवा और अनुभवहीन था इसलिए इन सरदारों को आशा थी कि वे पहले की तरह ही सत्ता और प्रभाव का उपभोग करते रहेंगे। लेकिन बलबन की बढ़ती हुई ताकत को देखकर उन्होंने 1250 ई. में एक षड्यंत्र रचा और बलबन को उसके स्थान से अपदस्थ कर दिया। बलबन की जगह इमादुद्दीन रैहान नामक एक भारतीय मुसलमान को प्रतिष्ठित कर दिया गया। यद्यपि तुर्क सरदार चाहते थे कि सारी शक्ति और सत्ता उनके हाथों में सिमटी रहे तथापि रैहान की नियुक्ति पर उन्हें इसलिए सहमत होना पड़ा कि उनमें इस बात पर सहमति नहीं हो रही थी कि उनमें से कौन उस पद पर प्रतिष्ठित किया जाए। बलबन पदत्याग के लिए तो राजी हो गया लेकिन वह बड़ी सावधानी से अपना एक दल तैयार करने की कोशिश में जुटा रहा। अपनी बर्खास्तगी के दो साल के अंदर उसने अपने कई विरोधियों को अपने पक्ष में कर लिया। जब वह लड़ाई के मैदान में फैसले की तैयारी में लग गया। मालूम होता है कि उसने मंगोलों से भी, जिन्होंने पंजाब के एक बहुत बड़े हिस्से को तबाह कर दिया था, कुछ संपर्क स्थापित कर लिया था। आखिर

सुल्तान को बलबन के दल की श्रेष्ठ ताकत के आगे झुकना पड़ा और उसने रैहान को बर्खास्त कर दिया। कुछ समय बाद रैहान को पराजित करके मार डाला गया। बलबन ने सीधी-टेढ़ी चालें चलकर अन्य कई प्रतिद्वंद्वियों से भी छुटकारा पा लिया। यहाँ तक कि उसने राजप्रतीक छत्र भी धारण कर लिया। लेकिन शायद तुर्क सरदारों की भावनाओं का ख्याल करके वह खुद गद्दी पर नहीं बैठा। 1265 ई. में सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु हो गई। कुछ इतिहासकारों की राय है कि बलबन ने ही सुल्तान को ज़हर दे दिया था और उसने उसके बेटों का भी सफाया कर दिया था ताकि उसके लिए गद्दी हासिल करने का रास्ता साफ हो जाए। बलबन के तौर-तरीके अक्सर कठोर और अवांछनीय हुआ करते थे। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उसकी गद्दीनशीनी के साथ मज़बूत और केंद्रीकृत शासन के युग का सूत्रपात हुआ।

बलबन राजपद की शक्ति और प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहा क्योंकि उसे विश्वास था कि उसे अंदर और बाहर से जो खतरे थे उनका सामना करने का यही उपाय था। यह वह युग था जब सत्ता और शक्ति का अधिकारी उसी व्यक्ति को माना जाता था जो कुलीन घरानों में उत्पन्न हुआ हो और अपनी प्राचीन वंश-परंपरा पर गर्व करने वाला हो। इसलिए गद्दी पर अपने दावे को मज़बूत करने के लिए उसने घोषणा की कि वह विख्यात ईरानी अफ़ासियाब का वंशज है। अपने कुलीन रक्त का दावा साबित करने के लिए बलबन ने खुद को तुर्क अमीरों के हितों के रक्षक के रूप में पेश किया। वह किसी भी महत्वपूर्ण पद के लिए किसी ऐसे शक्ति के नाम के बारे में सोचने को तैयार नहीं था जो किसी कुलीन परिवार का न रहा हो। व्यावहारिक दृष्टि से इसका मतलब यह था कि किसी भी भारतीय मुसलमान को शक्ति और सत्ता का पद प्राप्त नहीं हो सकता था। कभी-कभी तो उसका व्यवहार हास्यास्पद हो जाता था। उदाहरण के लिए उसने एक बहुत बड़े व्यापारी से मिलने से इसलिए इंकार कर दिया कि उसका जन्म उच्च कुल में नहीं हुआ था। इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि बलबन कहता था, "जब भी मैं किसी नीच कुल में उत्पन्न हेय व्यक्ति को देखता हूँ तो मेरी आँखों में अंगारे फूटने लगते हैं और क्रोध से मेरा हाथ (उसे मारने के लिए) मेरी तलवार पर चला जाता है।" बरनी खुद भी तुर्क अमीरों का बहुत बड़ा पक्ष-पोषक था और हम नहीं जानते कि बलबन ने सचमुच ऐसी बात कही या नहीं, लेकिन इससे गैर तुर्कों के प्रति उसके रवैये का परिचय तो मिलता ही है।

बलबन तुर्क अमीरों के हितों का रक्षक होने का दावा भले करता रहा हो लेकिन वह सत्ता में किसी को हिस्सेदार बनाने को तैयार नहीं था, यहाँ तक कि अपने परिवार के लोगों को भी नहीं। उसकी निरंकुशता इतनी प्रबल थी कि वह अपने समर्थकों से भी अपनी आलोचना सुनने को तैयार नहीं था। बलबन अंत में चहलगानी, अर्थात् तुर्क अमीरों की शक्ति को ध्वस्त कर देने को कृतसंकल्प था और उतना ही कटिबद्ध वह राजपद की शक्ति और प्रतिष्ठा को परवान चढ़ाने के लिए था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसने शेर खाँ, नामक अपने परिजन को ज़हर देने में भी कोई संकोच नहीं किया। साथ ही रिआया का विश्वास

प्राप्त करने के लिए वह सर्वथा निष्पक्ष न्याय किया करता था। अपनी सत्ता की अवमानना करने वाले बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी वह माफ नहीं करता था। उदाहरण के लिए अपने गुलामों के साथ निष्ठुर व्यवहार करने के लिए बदायूँ के सूबेदार के पिता और अवध के भी सूबेदार के पिता को मिसाली सजाएँ दी गई। अपने को पूरे हालात से वाकिफ रखने के लिए बलबन ने हर महकमे में जासूस मुकर्रर किए। आंतरिक अशांति और अव्यवस्था से निबटने के लिए और पंजाब में अपने पैर जमा चुके तथा दिल्ली सल्तनत के लिए खतरा बने मंगोलों का सामना करने के लिए बलबन ने एक शक्तिशाली केंद्रीकृत सेना संगठित की। इस प्रयोजन से उसने सैन्य विभाग (दीवान-ए-अर्ज़) का पुनर्गठन किया और जो सैनिक और घुड़सवार लड़ने लायक नहीं रह गए थे उन्हें पेंशन देकर उनकी छुट्टी कर दी। घुड़सवारों में से बहुत से लोग तुर्क थे जिन्होंने इस फैसले के खिलाफ बहुत चीख-पुकार मचाई।

दिल्ली के आसपास के इलाकों और दोआब में शांति-सुव्यवस्था की स्थिति काफी बिगड़ गई थी। गंगा-यमुना दोआब और अवध में सड़कें चोर-डाकुओं के भय से ग्रस्त रहती थीं। यहाँ तक कि पूर्वी क्षेत्र से संपर्क बनाए रखना कठिन हो गया था। इस इलाके में कुछ राजपूत जमींदारों ने किले बनवा लिए थे और वे शासन को चुनौती देते रहते थे। मेवाती इतने दुस्साहसी और उद्दंड हो गए थे कि वे दिल्ली की सीमा तक पर लोगों को लूट लेते थे। इन लोगों से निबटने के लिए बलबन ने "खून और फौलाद" की नीति अपनाई। लुटेरों का दूर तक पीछा करके उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता था। बदायूँ के आसपास के इलाकों में राजपूतों के गढ़ों को तहस-नहस कर दिया गया, जंगलों को साफ कर दिया गया और सड़कों की हिफ़ाजत के लिए वहाँ अफगान सिपाही बसा दिए गए। राजपूत जमींदार यदि उपद्रव करें तो उनसे भी निबटने की जिम्मेदारी उन्हें सौंपी गई।

इन कठोर कार्रवाइयों के ज़रिए बलबन ने परिस्थिति पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। लोगों पर अपनी सरकार की शक्ति और सामर्थ्य का रोब जमाने के लिए बलबन अपने दरबार का वातावरण खूब शानो-शौकत से भरा रखता था। जब कभी वह बाहर निकलता था तो उसके इर्द-गिर्द नंगी तलवार लिए अंगरक्षकों का बहुत बड़ा दल तैनात रहता था। दरबार में हँसी-मज़ाक से उसे पूरा परहेज़ रखा जाता था। लोग उसे कभी अगंभीर मुद्रा में न देख लें इसलिए उसने शराब पीना भी छोड़ दिया था। अमीर लोग उसके समकक्ष नहीं थे, इस बात पर ज़ोर देने के लिए सजदा और पैबोस (दंडवत करने और राजा के कदम चूमने) की रस्मों पर वह बहुत आग्रह रखता था। यह और ऐसी ही दूसरी कई रस्में जो उसने ईरानियों से नकल की थीं, इस्लाम के विरुद्ध थीं। फिर भी उन पर आपत्ति करने की कोई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि मंगोल हमलों के कारण जब मध्य और पश्चिम एशिया के इस्लामी राज्य मिटते जा रहे थे, ऐसे समय में बलबन और दिल्ली सल्तनत "इस्लाम" के अकेले रक्षक थे।

बलबन की मृत्यु 1286 ई. में हुई। निस्संदेह वह दिल्ली सल्तनत के प्रमुख निर्माताओं में से

धा-खास तौर से उसके शासन और संस्थाओं के रूप का। राजपद की शक्ति का रोब जमाकर बलबन ने दिल्ली सल्तनत को मज़बूत बनाया लेकिन वह भी मंगोलों के हमलों से उत्तर भारत को पूरी तरह सुरक्षित नहीं रख पाया। इसके अलावा गैर-तुर्कों को शक्ति और सत्ता के पदों से अलग रखकर और अपनी सरकार का आधार एक छोटे-से जातीय समूह को बनाने का प्रयत्न करके उसने बहुत-से लोगों को नाराज़ कर दिया। फलतः उसकी मृत्यु के बाद उपद्रव और झगड़े फिर से उठ खड़े हुए।

मंगोल और उत्तर-पश्चिम सीमा की समस्या

अपनी प्राकृतिक सीमाओं के कारण भारत अपने इतिहास के अधिकांश दौर में बाहरी हमलों से सुरक्षित रहा है। केवल उत्तर-पश्चिम में ही उसकी सुरक्षा कमज़ोर थी। जैसा कि हम देख चुके है, हूणों, सीथियाइयों आदि की तरह तुर्क भी इसी क्षेत्र के पहाड़ों के दर्रों से होकर भारत में घुसे थे जहाँ उन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन पहाड़ों का विस्तार कुछ इस तरह का है कि पंजाब और सिंध की उपजाऊ घाटियों की रक्षा करने के लिए काबुल से लेकर ग़ज़नी होते हुए कंदहार तक पहुँचने वाले क्षेत्रों पर नियंत्रण रखना ज़रूरी था। हिंदूकुश से घिरे क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करना इससे भी अधिक ज़रूरी था क्योंकि यह मध्य एशिया से कुमक पहुँचाने का मुख्य मार्ग था।

पश्चिम एशिया की पल-पल बदलती परिस्थितियों के कारण दिल्ली सल्तनत इन सीमाओं की ओर ठीक से ध्यान नहीं दे पाई जिससे भारत को उस ओर से बराबर खतरा बना रहा।

ख्वारिज़्मी साम्राज्य के उदय के फलस्वरूप काबुल, कंदहार और ग़ज़नी पर गौरियों का नियंत्रण ढीला से मिट चला था और ख्वारिज़्मी साम्राज्य की सीमा पूरब में सिंधु नदी तक पहुँच गई थी। मालूम होता था कि उत्तर भारत पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए ख्वारिज़्मी शासकों और कुतुबुद्दीन ऐबक के उत्तराधिकारियों के बीच संघर्ष शुरू होने ही वाला है। लेकिन तभी इससे भी एक बड़ा खतरा आ उपस्थित हुआ। हमारा तात्पर्य मंगोल नेता चंगेज़ खाँ के आगमन से है। चंगेज अपने को "ईश्वर का अभिशाप" कहने में गर्व का अनुभव करता था। मंगोलों ने 1218 ई. में ख्वारिज़्मी साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया।

जक्सार्टिस से लेकर कैस्पियन सागर और ग़ज़नी से लेकर इराक तक के फलते-फूलते नगरों को मंगोलों ने बर्बाद कर दिया और ग्रामीण इलाकों में भी काफी तबाही मचाई। बहुत-से तुर्क सैनिक मंगोलों के साथ जा मिले। मंगोल युद्ध के एक उपकरण के तौर पर आतंक का प्रयोग जानबूझ कर करते थे। जब कभी कोई नगर जीत लिया जाता था तो विजेताओं के सभी सैनिकों और उनके बहुत सारे सरदारों को मौत के घाट उतार दिया जाता था। गैर-सैनिकों को भी बख्शा नहीं जाता था। कारीगरों को मंगोल सेना ने सेवा करने के लिए पकड़ लिया जाता था और शरीर से चुस्त-दुरुस्त अन्य स्त्री-पुरुषों को अन्य नगरों पर किए जाने वाले ऐसे हमलों के अवसर पर श्रमिकों के रूप में काम करने के लिए रोक लिया जाता था। इस सबसे इस क्षेत्र के आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन को भारी नुकसान पहुँचा। कालांतर में जब मंगोलों ने

इस क्षेत्र में शांति-सुव्यवस्था कायम कर दी और चीन से लेकर भूमध्यसागर के तट तक पहुँचने वाले व्यापारिक मार्गों को संरक्षण प्रदान किया तो पुनरुत्थान की प्रक्रिया आरंभ हुई। पर फिर भी ईरान, तुरान और इराक को अपना विगत वैभव फिर से प्राप्त करने में पीढ़ियों का समय लग गया। इस बीच दिल्ली सल्तनत पर मंगोल हमलों के कुछ गंभीर प्रभाव पड़े। शाही खानदानों के कई लोग, बहुत सारे विद्वान और उलमा तथा प्रमुख परिवारों के लोग झुंड बाँध-बाँध कर दिल्ली पहुँचे। इस प्रकार इस क्षेत्र में बचे एकमात्र मुस्लिम राज्य के रूप में दिल्ली सल्तनत काफी महत्त्वपूर्ण बन गई। इन नए शासकों के विभिन्न हिस्सों के बीच एकता के एकमात्र सूत्र के रूप में एक ओर तो इस्लाम पर ज़ोर दिया जाता था लेकिन दूसरी ओर मुस्लिम राज्यों के अवसान का मतलब यह भी था कि तुर्क विजेताओं का संबंध अपने मूल स्थान से कट गया था और उन्हें अब वहाँ से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी जिससे उन्हें स्वयं को यथाशीघ्र भारतीय परिस्थिति के अनुरूप ढालने पर विवश होना पड़ा।

भारत पर मंगोल खतरा 1221 ई. में आया। ख्वारिज़्मी राजा की पराजय के बाद युवराज जलालुद्दीन जान बचा कर भाग निकला, लेकिन चंगेज खाँ उसका पीछा करता रहा। सिंधु नदी के किनारे युवराज ने चंगेज के खिलाफ जमकर लोहा लिया, लेकिन जब पराजित हो गया तो उसने अपने घोड़े को सिंधु नदी में उतार दिया और उसे पार करके भारत पहुँच गया। चंगेज़ खाँ तीन महीने तक नदी के आसपास मंडराता रहा लेकिन अंत में उसे पार करने का इरादा छोड़ दिया। इसकी बजाय उसने ख्वारिज़्मी साम्राज्य के बाकी हिस्सों को जीतने का फैसला किया। कहना कठिन है कि अगर चंगेज़ ने भारत पर आक्रमण करने का निर्णय किया होता तो परिणाम क्या होता। भारत का तुर्क राज्य अब भी काफी कमज़ोर और असंगठित था। भारत को तुर्कों के हाथों आरंभ में जितना झेलना पड़ा था, मंगोल आक्रमण होने पर उससे शायद ज़्यादा खूँरेज़ी, बर्बादी और तबाही के दौर से गुज़रना पड़ता। उन दिनों दिल्ली पर इल्तुतमिश का शासन था। उसने मंगोलों को खुश करने के लिए जलालुद्दीन के शरण देने के अनुरोध को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। जलालुद्दीन कुछ समय तक लाहौर और सतलुज नदी के बीच अर्थात् सिंध-सतलुज क्षेत्र में समय व्यतीत करता रहा। इस कारण से मंगोलों ने इस इलाके पर कई बार हमला किया। अब सिंधु नदी भारत की सीमा नहीं रह गई थी। लाहौर और मुल्तान इल्तुतमिश तथा उसके प्रतिद्वंद्वी यलदूज़ और कुबाचा के बीच झगड़े का कारण बने हुए थे। अंत में इल्तुतमिश ने इन दोनों प्रदेशों को जीत लिया और इस तरह मंगोलों के खिलाफ किसी हद तक मज़बूत रक्षापंक्ति कायम कर ली।

चंगेज खाँ 1226 ई. में चल बसा और उसका विशाल साम्राज्य उसके बेटों में विभाजित हो गया। इस दौरान बातू खाँ के नेतृत्व में मंगोलों ने रूस में खूब तबाही मचाई लेकिन 1240 ई. तक वे भारत की ओर सिंधु से आगे बढ़ने से परहेज़ करते रहे। इसका मुख्य कारण यह था कि वे ईराक और ईरान में व्यस्त थे। इससे दिल्ली के सुलतानों को भारत में एक केंद्रीकृत राज्य और शक्तिशाली सेना का गठन करने का मौका मिल गया।

1241 ई. में हेरात, ग़ोर, ग़ज़नी तथा तुखारिस्तान में मंगोल सेनाओं का अधिपति तैर बहादुर लाहौर की सीमा पर आ पहुंचा। लाहौर के सूबेदार ने बहुत आजिज़ी के साथ सहायता के लिए दिल्ली से अनुरोध किया। लेकिन जब उसे कोई मदद नहीं मिली तो वह शहर से भाग खड़ा हुआ। मंगोलों ने शहर को तबाह कर दिया और लगभग जनशून्य बना दिया। 1245 ई. में वे मुल्तान पर चढ़ आए। तब बलबन एक विशाल सेना लेकर तेज़ी से मौके की ओर बढ़ चला और इस विपत्ति को टालने में कामयाबी हासिल की। इस बीच इमादुद्दीन रैहान के नेतृत्व में बलबन के प्रतिद्वंदवी उसे पदच्युत करने के लिए जोड़तोड़ में लग गए थे। जब बलबन इन लोगों से निबट रहा था उस दौरान मंगोलों को अच्छा मौका मिल गया और उन्होंने लाहौर पर कब्ज़ा कर लिया। कुछ तुर्क अमीर भी, जिनमें मुल्तान का सूबेदार शेरखाँ भी शामिल था, मंगोलों के साथ जा मिले। यद्यपि बलबन ने मंगोलों के खिलाफ़ जमकर लोहा लिया तथापि दिल्ली सल्तनत की सीमा धीरे-धीरे झेलम से व्यास तक सिकुड़ गई। स्मरणीय है कि उन दिनों व्यास नदी रावी और सतलुज के बीच बहती थी। अंत में बलबन मुल्तान को मंगोलों से फिर से हासिल करने में कामयाब हो गया। लेकिन उस पर उनका दबाव बराबर बना रहा।

यही वह परिस्थिति थी जिसका सामना बलबन को सुल्तान की हैसियत से भी करना पड़ा। इस सिलसिले में उसने शक्ति और कूटनीति की मिलीजुली नीति अपनाई। उसने तबरहिंद, सुनाम और समाना के किलों की मरम्मत करवाई और मंगोलों को व्यास पार करने से रोकने के लिए वहाँ एक प्रबल सेना तैनात कर दी। इस सीमा पर अधिक-से-अधिक चौकसी रखने के लिए वह हमेशा दिल्ली में ही मौजूद रहा और किसी सैनिक कार्रवाई के सिलसिले में कहीं दूर के लिए नहीं निकला। साथ ही उसने ईरान के मंगोल इल-खान हलाकू के पास और आस-पास के शासकों के पास कूटनीतिक टोह लेने के लिए अपने आदमी भेजे। हलाकू के दूत दिल्ली आए जिनका बलबन ने दिल खोलकर स्वागत-सम्मान किया। वह पंजाब के बहुत बड़े हिस्से को मंगोलों के नियंत्रण में रहने देने पर चुपचाप राज़ी हो गया बदले में मंगोलों ने दिल्ली पर कभी कोई हमला नहीं किया। लेकिन सीमाएँ अनिश्चित रहीं और मंगोलों को रोक रखने के लिए बलबन को लगभग हर साल उनके खिलाफ़ सैनिक कार्रवाई करनी पड़ती थी। उसने मुल्तान पर फिर से कब्ज़ा करने में कामयाबी हासिल की और अपने ज्येष्ठ पुत्र महमूद को उसकी सूबेदारी की स्वतंत्र जिम्मेदारी सौंप दी। लेकिन युवराज मंगोलों के खिलाफ़ एक सैनिक मुठभेड़ में मारा गया।

मंगोल-मुसीबत का सामना करने के लिए बलबन ने जो रणनीतिक तथा कूटनीतिक व्यवस्था की थी वह 1286 ई. में उसकी मृत्यु के उपरांत भी दिल्ली सल्तनत के काम आती रही। 1292 ई. में हलाकू का एक पौत्र अब्दुल्ला 1,50,000 घुड़सवारों के साथ दिल्ली की ओर बढ़ चला। लेकिन जलालुद्दीन ख़लजी ने उसे बलबन द्वारा भटिंडा, सुनाम आदि में स्थापित सीमा सुरक्षा पंक्ति के निकट पराजित कर दिया। पस्तहिम्मत मंगोलों को युद्ध-विराम का निवेदन करना पड़ा। इस्लाम कबूल करने वाले 4000 मंगोल भारतीय शासकों

के पक्ष में आ गए और वह दिल्ली के निकट बस गए।

मंगोलों के पंजाब से आगे बढ़कर दिल्ली पर धावा बोलने के प्रयत्न का कारण मध्य-एशिया की राजनीति में आया परिवर्तन था। ईरान के मंगोल इल-खान ने कुल मिलाकर दिल्ली के सुल्तानों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध कायम रखा था। पूरब में उनके प्रतिद्वंद्वी चगताई मंगोल थे जो ट्रांस-ऑक्सियाना पर शासन करते थे। ट्रांस-ऑक्सियाना का शासक दावा ख़ाँ जब ईरान के इल-खान के खिलाफ कामयाब नहीं हुआ तो उसने भारत को जीतने की कोशिश की। 1297 ई. से उसने दिल्ली की रक्षा-पंक्ति का काम करने वाले किलों पर एक-के-बाद-एक कई हमले किए। 1299 ई. में उसके बेटे कुतलुग ख्वाज़ा के नेतृत्व में 2,00,000 मंगोलों की विशाल सेना दिल्ली को जीतने के लिए आ पहुँची। उन्होंने आसपास के इलाकों से दिल्ली का संपर्क काट दिया। यहाँ तक कि वे दिल्ली की कई गलियों में भी घुस आए। यह पहला अवसर था जब मंगोलों ने दिल्ली पर अपना शासन स्थापित करने के लिए हमलों का ताँता लगा लिया था। उन दिनों दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन ख़लजी था। उसने मंगोलों से दिल्ली के बाहर दो-दो हाथ करने का फ़ैसला किया। कई लड़ाइयों में भारतीय सेना विजयी रही, हालाँकि उनमें से एक में प्रसिद्ध सेनानायक ज़फ़र ख़ाँ खेत रहा। कुछ समय बाद मंगोल वापस लौट गए और उन्होंने संपूर्ण युद्ध का खतरा मोल नहीं लिया। 1303 ई. में 1,20,000 की एक फौज के साथ मंगोल फिर से आ धमके। उस समय अलाउद्दीन ख़लजी राजपूताना में चित्तौर के खिलाफ़ सैनिक कार्रवाई में लगा हुआ था। मंगोलों के आने की खबर मिलते ही वह वापस लौट पड़ा और दिल्ली के निकट सिरी नामक अपनी नई राजधानी में किलेबंदी करके बैठ गया। दोनों सेनाएँ अपने-अपने शिविरों में एक-दूसरे के आमने-सामने दो महीने तक सन्नद्ध रहीं। इस दौरान दिल्ली के नागरिक तरह-तरह की मुसीबतें झेलते रहे। हर रोज झड़पें हो रही थीं। अंत में मंगोल एक बार फिर बिना कुछ हासिल किए लौट गए।

दिल्ली पर किए गए इन दो हमलों से यह स्पष्ट हो गया कि दिल्ली के सुल्तान मंगोलों का सामना कर सकते थे। यह ऐसा पराक्रम था जो मध्य या पश्चिम एशिया के शासक तब तक नहीं दिखा पाए थे।[1] साथ ही यह दिल्ली के सुल्तानों को एक कड़ी चेतावनी थी। अब अलाउद्दीन ख़लजी ने एक विशाल और चुस्त सेना खड़ी करने के लिए गंभीरता से महत्वपूर्ण कदम उठाए और उसने व्यास के निकट के किलों की मरम्मत करवाई। फलत: अगले साल होने वाले मंगोल आक्रमण को उसने भारी नरसंहार के साथ विफल कर दिया। 1306 ई. में ट्रांस-ऑक्सियाना के मंगोल शासक दावा ख़ाँ की मृत्यु हो गई जिसके बाद उसके राज्य में काफी अव्यवस्था फैल गई और गृहयुद्ध छिड़ गया। अब मंगोल भारत के लिए खतरा नहीं रह गए थे। यह दौर फिर नए विजेता तैमूर के समय में आया जिसने मंगोलों को एक सूत्र में बाँधा। मंगोलों के राज्य में फैली अव्यवस्था से लाभ उठाकर

1. अपने विजय के दौर में मंगोलों को पहले-पहल जेरोशलम के निकट 1260 ई. में मिस्रियों के हाथों पराजय का मुँह देखना पड़ा था।

दिल्ली के शासकों ने फिर से लाहौर पर अधिकार कर लिया और कालांतर से साल्ट पर्वतश्रेणियों और सिन्धु नदी तक अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि तेरहवीं सदी के पूरे दौर में दिल्ली के सुल्तानों को उत्तर-पश्चिम से एक गंभीर खतरे का सामना करना पड़ा। यद्यपि मंगोलों ने धीरे-धीरे पूरे पंजाब और कश्मीर पर कब्ज़ा कर लिया था और दिल्ली को भी संकट में डाल दिया था, तथापि तुर्क शासकों की दृढ़ता और शक्ति और साथ ही उनकी कूटनीति के कारण यह खतरा टल गया और बाद में पंजाब पर दिल्ली ने फिर से अधिकार कर लिया। मंगोलों की ओर से दिल्ली सल्तनत के लिए पैदा किए गए खतरों का सल्तनत की सभी आंतरिक समस्याओं पर बहुत प्रभाव पड़ा।

आंतरिक विद्रोह और दिल्ली सल्तनत की प्रदेश-विजय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए संघर्ष

इलबारी तुर्कों (जिन्हें कभी-कभी मामलूक या गुलाम तुर्क भी कहा जाता है) के शासनकाल में दिल्ली के सुल्तानों को न केवल शासक वर्ग के बीच के आपसी झगड़ों और विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा बल्कि आंतरिक विद्रोह से भी निबटना पड़ा। इनमें से कुछ विद्रोहों के नेता महत्वाकांक्षी मुसलमान सरदार थे जो स्वतंत्र हो जाना चाहते थे। कुछ विद्रोहों के नेता राजपूत राजा और ज़मींदार थे जो या तो तुर्क विजेताओं को अपने-अपने प्रदेशों से निकाल बाहर करने को उद्यत थे या तुर्क शासकों की कठिनाइयों से लाभ उठाते हुए अपने कमजोर पड़ोसियों को दबाकर अपनी श्री-समृद्धि की वृद्धि करना चाहते थे। इस प्रकार ये राजा और ज़मींदार केवल तुर्कों के खिलाफ़ ही नहीं बल्कि आपस में भी लड़ते-भिड़ते रहते थे। विभिन्न आंतरिक विद्रोहों के स्वरूप और लक्ष्य अलग-अलग थे। इसलिए उन सबको "हिंदू प्रतिरोध" के एक ही शीर्षक के अंतर्गत रखना सही नहीं है। भारत बहुत बड़ा देश था और भौगोलिक कारणों से किसी एक केंद्र से पूरे देश पर शासन करना कठिन था। सूबेदारों को काफ़ी स्वायत्तता देना ज़रूरी था और इस स्वायत्तता के साथ प्रबल स्थानीय भावनाओं का संयोग हो जाने पर वे दिल्ली के नियंत्रण से मुक्ति पाने और स्वयं को स्वतंत्र घोषित करने को उत्साहित हो जाते थे। स्थानीय शासक दिल्ली के शासन के खिलाफ़ क्षेत्रीय तथा धार्मिक भावनाओं से समर्थन पाने का भरोसा रख सकते थे।

दिल्ली के सुल्तानों के खिलाफ़ हुए सभी विद्रोहों का वर्णन करना ज़रूरी नहीं है। भारत का पूर्वी हिस्सा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल थे, दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार संघर्ष करते आ रहे थे। पिछले एक अध्याय में हम देख चुके हैं कि ख़लजी सरदार बख़्तियार ख़लजी ने किस प्रकार सेन राजा लक्ष्मण सेन को लखनौती से निकाल बाहर करने में सफलता प्राप्त की थी। कुछ अव्यवस्था और गड़बड़ी के बाद इवाज़ नामक एक व्यक्ति ने गियासुद्दीन सुल्तान का ख़िताब धारण करके वहाँ स्वतंत्र शासक के रूप में काम करना शुरू कर दिया। उत्तर-पश्चिम में इल्तुतमिश की व्यस्तता का लाभ उठाकर उसने अपना नियंत्रण बिहार पर भी स्थापित कर लिया और जाजनगर (उड़ीसा), तिरहुत (उत्तर बंगाल), बंग (पूर्वी बंगाल) तथा कामरूप (असम) से नज़राने उगाहना शुरू

कर दिया।

जब इल्तुतमिश उत्तर-पश्चिम से मुक्त हुआ तो 1225 ई. में उसने सेना लेकर इवाज़ पर आक्रमण किया। आरंभ में इवाज़ ने आत्मसमर्पण कर दिया लेकिन इल्तुतमिश के पीठ फेरते ही उसने फिर से अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। तब इल्तुतमिश के एक बेटे ने, जो कि अवध का सूबेदार था, इवाज़ को युद्ध में पराजित करके मौत के घाट उतार दिया। लेकिन उसके बाद भी स्थिति अनिश्चित ही रही। आखिर 1230 ई. में इल्तुतमिश जब फिर सेना लेकर वहाँ पहुंचा तो हालत पर काबू पाया जा सका।

इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरांत बंगाल के सूबेदार सुविधानुसार कभी अपने को आज़ाद घोषित कर देते थे तो कभी दिल्ली की अधीनता मान लेते थे। इस काल में बिहार सामान्यतः लखनौती के नियंत्रण में रहा। बंगाल के जिन सूबेदारों ने स्वतंत्र शासकों की तरह बरताव करने की कोशिश की (हालाँकि इसमें उन्हें खास कामयाबी नहीं मिली), उन्होंने कड़ा मणिकपुर आदि पर अर्थात् अवध तथा बिहार के बीच पड़ने वाले इलाकों पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने राढ़ा (दक्षिण बंगाल), उड़ीसा और कामरूप (असम) पर भी अपना दबदबा कायम करने का प्रयास किया। इस संघर्ष में उड़ीसा तथा असम के शासकों ने अपना वर्चस्व भली-भाँति बनाए रखा। 1244 ई. में उड़ीसा के शासक ने लखनौती के निकट मुसलमानों की फौज को गहरी शिकस्त दी। उड़ीसा की राजधानी जाजनगर पर कब्ज़ा करने के लिए मुसलमानों ने बाद में जो प्रयत्न किए उनका परिणाम भी ऐसा ही रहा। इससे स्पष्ट हो गया कि लखनौती के स्वतंत्र मुसलमान शासक इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे पड़ोस के हिंदू क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकते।

जब बलबन के रूप में दिल्ली को एक शक्तिशाली शासक मिला तो स्वभावतः दिल्ली सिंहासन बिहार और बंगाल पर अपना नियंत्रण पुनः स्थापित करने को उद्यत हो उठा। अब दिल्ली की औपचारिक अधीनता की स्वीकृति उसके लिए काफ़ी नहीं थी। तुग़रिल ने पहले तो बलबन की अधीनता क़बूल कर ली थी लेकिन बाद में उसने भी अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया था। बलबन सेना लेकर लखनौती आ धमका (1280 ई.) और तुग़रिल को खत्म कर दिया। यही नहीं, उसने उसके परिजनों और अनुगामियों को भी अमानवीय दंड दिए। यह अभियान तीन साल तक चला और यह एकमात्र ऐसा सैनिक अभियान था जिसका नेतृत्व बलबन ने दिल्ली से दूर जाकर किया था।

लेकिन दिल्ली बंगाल पर ज़्यादा दिनों तक अपना नियंत्रण कायम नहीं रख सकी। बलबन की मृत्यु के बाद उसके बेटे बुगरा खाँ ने, जिसे बलबन ने बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया था, दिल्ली की गद्दी के लिए अपनी जान को जोखिम में डालने की बजाय बंगाल पर स्वतंत्र रूप से शासन करना बेहतर समझा। इसलिए उसने भी अपनी आज़ादी का ऐलान करके एक राजघराने की स्थापना की, जो अगले चालीस वर्षों तक बंगाल पर शासन करता रहा।

इस प्रकार तेरहवीं सदी के ज़्यादातर दौर में बंगाल और बिहार दिल्ली के काबू से बाहर रहे। पंजाब का भी बहुत बड़ा हिस्सा मंगोलों के हाथों में

चला गया। यहाँ तक कि गंगा के दोआब में भी तुर्क शासन पूरी तरह से सुरक्षित नहीं था। गंगा पार के कोटरिया राजपूत, जिनकी राजधानी अहिच्छत्र में थी, काफी दुर्धर्ष थे। वे बदायूँ ज़िले पर आए दिन हमले करते रहते थे। अंत में गद्दीनशीन होने पर बलबन खुद ही एक विशाल सेना लेकर उन पर चढ़ आया। उसने वहाँ खूब मारकाट मचाई और ज़िले को लगभग जनविहीन बना दिया। जंगलों को साफ़ करके सड़कें बनवाई गईं। बरनी ने लिखा है कि उस दिन से बरान, अमरोहा, संभल और कटिहार (आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश) के इलाक़े सुरक्षित हो गए और उन्हें उपद्रवों से हमेशा के लिए मुक्ति मिल गई।

दिल्ली सल्तनत की दक्षिणी और पश्चिमी सीमाएँ भी पूरी तरह से सुरक्षित नहीं थीं। यहाँ समस्या दोहरी थी। ऐबक के अधीन तुर्कों ने तिजारा (अलवर), बयाना, ग्वालियर, कालिंजर आदि के दुर्गों की पूरी शृंखला पर कब्ज़ा कर लिया था। उन्होंने पूर्वी राजस्थान में रणथंभोर, नागौर, अजमेर और जालौर के निकट नदोल तक के इलाक़ों को जीत लिया था। इनमें से अधिकांश इलाके किसी समय चौहान साम्राज्य के अंग थे। अब भी उन पर चौहान परिवारों का ही शासन था। इसलिए उनके खिलाफ़ ऐबक की सैनिक कार्रवाइयाँ वास्तव में चौहान साम्राज्य के खिलाफ़ चलाई गई मुहिम का हिस्सा थीं। लेकिन बाद में तुर्कों का मालवा और गुजरात की ओर बढ़ना तो दूर रहा, उन्हें पूर्वी राजस्थान में अपने प्रदेशों की रक्षा करना और दिल्ली तथा गंगा घाटी की हिफ़ाजत करने वाली गढ़ियों पर अपनी पकड़ बनाए रखना भी भारी पड़ रहा था।

उत्तर पश्चिम में इल्तुतमिश की व्यस्तता का फ़ायदा उठाते हुए राजपूत राजाओं ने कालिंजर, ग्वालियर और बयाना के अपने खोए हुए राज्य फिर से वापस पा लिए थे। रणथंभोर और जालौर जैसे कई और राज्यों ने भी तुर्क प्रभुत्व से स्वयं को मुक्त करा लिया था। 1226 ई. से इल्तुतमिश ने इन क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण पुनः स्थापित करने के लिए लड़ाइयों का सिलसिला शुरू कर दिया। सबसे पहले उसने रणथंभोर पर चढ़ाई की और वहाँ के शासक को तुर्क प्रभुत्व स्वीकार करने पर मज़बूर किया। उसने चालौर पर भी, जो कि गुजरात के रास्ते में पड़ता था, अधिकार कर लिया। लेकिन गुजरात और मालवा पर नियंत्रण स्थापित करने की इल्तुतमिश की कोशिश नाकाम रही। गुजरात के चालुक्यों ने इल्तुतमिश के आक्रमण को विफल कर दिया। मालवा के परमार भी तुर्कों को भारी पड़े। फिर भी इल्तुतमिश ने मालवा पर एक हमला किया और उज्जैन तथा भायसीना को लूट लिया। उसके एक सेनापति ने बूँदी पर भी आक्रमण किया। पूरब में इल्तुतमिश ने बयाना और ग्वालियर पर फिर अधिकार कर लिया, लेकिन बघेलखंड के राजपूतों के खिलाफ़ उसे खास सफलता नहीं मिली।

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद सल्तनत में जो गड़बड़ी फैली उससे पूर्वी राजपूताना पर तुर्कों का नियंत्रण फिर से शिथिल पड़ गया। ग्वालियर का किला भी उनके हाथों से निकल गया। भट्टी राजपूतों ने, जिनका गढ़ मेवाड़ का क्षेत्र था, बयाना को अलग-थलग कर दिया और दिल्ली के आसपास के इलाक़ों तक को अपने हमलों का निशाना बनाया। अजमेर और नागौर पर तुर्कों का नियंत्रण

कायम रहा।

रणथंभौर को जीतने और ग्वालियर पर फिर से कब्ज़ा करने के बलबन के प्रयत्न विफल रहे। लेकिन उसने मेवाड़ को बहुत ही बेरहमी के साथ सर किया। नतीजा यह हुआ कि लगभग अगले सौ सालों तक मेवाड़ ने सिर उठाने की हिम्मत नहीं की। अजमेर और नागौर पर दिल्ली सल्तनत का पूरा वर्चस्व स्थापित रहा। इस प्रकार, अन्यथा व्यस्त रहते हुए भी, बलबन ने पूर्वी राजस्थान में तुर्क शासन की जड़ें मज़बूत बना दीं। राजपूत राजाओं के हमेशा आपस में लड़ते रहने से भी तुर्कों को मदद मिली और उनके खिलाफ़ राजपूतों के प्रभावकारी गठबंधन की स्थापना असंभव हो गई।

इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के पहले दौर के सुल्तानों ने एक सशक्त राजतंत्र की स्थापना की। मंगोल आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया गया, दोआब के प्रदेशों पर दिल्ली के शासन को दृढ़ता प्रदान की गई और पूर्वी राजस्थान पर नियंत्रण स्थापित किया गया। इस सबके परिणामस्वरूप इतिहास के दूसरे दौर का अर्थात् पश्चिमी भारत और दकन में उसके विस्तार का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों और अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए :
   दीवान-ए-अर्ज़, सजदा, पैबोस, चहलगानी
2. ऐबक की बजाय इल्तुतमिश को दिल्ली सल्तनत का वास्तविक संस्थापक क्यों माना जाता है?
3. अमीरों के किस गुट ने चहलगानी का गठन किया था? इस गुट की ओर से रज़िया के किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?
4. बलबन के राजस्व के सिद्धांत का वर्णन कीजिए। उसके द्वारा राजस्व संबंधी अपनी कल्पना को साकार करने के लिए उठाए गए कदमों का वर्णन कीजिए।
5. दोआब क्षेत्र में शांति-सुव्यवस्था कायम करने के लिए बलबन ने कौन-कौन से कदम उठाए?
6. मंगोल शक्ति के उदय ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति को किस प्रकार प्रभावित किया?
7. मंगोलों के प्रति बलबन की नीति का विश्लेषण कीजिए। उसकी नीति की सफलता का मूल्यांकन कीजिए।
8. ऐबक से बलबन तक के काल के दौर में सल्तनत के सैन्य और सूबेदारों के पारस्परिक संबंधों का वर्णन कीजिए।
9. एशिया के मानचित्र की रूपरेखा में निम्नलिखित दर्शाइए :
   1. मंगोलों द्वारा शासित क्षेत्र
   2. सल्तनत की सीमाएँ